

छलांग मारते परीक्षाफल के मायने

हरिवंश चतुर्वेदी

परीक्षाफल की घोषणाओं का सीजन है। सीबीएसई ने 2 मई को 12वीं कक्षा के जो नतीजे घोषित किए हैं, उनमें 83.4 प्रतिशत परीक्षार्थी उत्तीर्ण हुए हैं। इनमें से 95,000 विद्यार्थियों ने 90 प्रतिशत या उससे अधिक और 17,693 विद्यार्थियों ने 95 प्रतिशत या उससे अधिक अंक हासिल किए हैं। इस परीक्षा में दो लड़कियाँ— हंसिका शुक्ला और करिश्मा अरोरी ने कुल 500 में से 499 अंक प्राप्त करके समूचे देश में प्रथम स्थान प्राप्त किया है। देश के कुछ खास इलाकों के बच्चों का परीक्षाफल राष्ट्रीय औसत से ऊंचा रहा है। तिरुवनंतपुरम क्षेत्र का नतीजा 98.2 प्रतिशत, चेन्नई क्षेत्र का 92.9 प्रतिशत और दिल्ली का 91.9 प्रतिशत रहा। इसी तरह सीबीएसई की 10वीं कक्षा के नतीजों में भी अंकों की वर्षा हुई। इस साल 911 प्रतिशत परीक्षार्थी पास हुए, जबकि पिछले साल यह प्रतिशत 86.7 ही था। इस परीक्षा में 13 विद्यार्थियों ने कुल 500 प्राप्तांकों में से 499 अंक हासिल किए हैं। 25 विद्यार्थियों को 498 और 59 विद्यार्थियों को 497 अंक हासिल हुए हैं। इन नतीजों से हर कोई उत्साहित है, क्योंकि देश के नौनिहाल पढ़ाई-लिखाई में आकाश को चूमते हुए दिख रहे हैं। इसका श्रेय बच्चों, उनके माता-पिता और शिक्षकों को दिया जाना चाहिए। सीबीएसई और अन्य स्कुली शिक्षा बोर्डों की वार्षिक परीक्षाओं में अंकों की वर्षा पिछले कुछ दशकों में लगातार बहती रही है। कुछ दशक पूर्व 85 से 90 प्रतिशत अंक हासिल कर बच्चे टॉपर बन जाते थे, जो आज संभव है। अंकों की बढ़ोतरी के कई कारण हैं, जिनमें एक प्रमुख कारण है— भारतीय मध्यम वर्ग में शिक्षा के माध्यम से संपन्नता और खुशहाली हासिल करने के प्रति बड़ा हुआ आत्मविश्वास। साल 1991 से पूर्व आर्थिक रूप



रस्ता साल 2008 में आई विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दौरान ही जाकर धीमी हुई। पिछले 60 वर्षों में आईआईएम, आईआईटी और एनआईटी से निकले लाखों प्रतिभाशाली युवा देश से पलायन करके अमेरिका, कनाडा, यूरोप और ऑस्ट्रेलिया जाकर बस गए। अमेरिका की सिलिकॉन वैली में बसे हुए अनेक भारतीय अब अरबपति और खरबपति की श्रेणी में आ चुके हैं। वे सभी किसी नामचीन संस्थान से ग्रेजुएट हैं और उन संस्थानों में दाखिले का मुख्य आधार 12वीं कक्षा की बोर्ड परीक्षा में उनकी ऊंची मेरिट रही होगी। यह भी संभव है कि विदेश जाकर बसे हुए आईटी उद्यमियों अथवा प्रोफेशनलों में से

ज्यादातर केंद्रीय विद्यालयों के विद्यार्थी रहे होंगे या 12वीं में सीबीएसई बोर्ड के परीक्षार्थी रहे होंगे। सीबीएसई बोर्ड और केंद्रीय विद्यालय, दोनों संस्थाएँ भारत की स्कुली शिक्षा के ऐसे चमकते सितारे हैं, जिन्हें भारतीय मध्यम वर्ग ने जीवन में अपने सुनहरे सपनों को साकार बनाने

बच्चों को हर विषय में महत्वपूर्ण बातों को समझना और फिर निरंतर अभ्यास करके उसे अपनी यादशत का हिस्सा बनाना होता है। अच्छे अंक हासिल करने के इन नुस्खों को अब बच्चों के माँ-बाप भी सीखने लगे हैं, क्योंकि घर पर उन्हें यह देखना होता है कि

परीक्षा देने वालों की आर्थिक-सामाजिक और शैक्षणिक पृष्ठभूमि में भारी अंतर भी है।

बोर्ड परीक्षाओं में देश के लाखों बच्चों के 90 प्रतिशत से ऊपर अंक आने से हमारी स्कुली शिक्षा की जमीनी सच्चाइयाँ नहीं छिप सकतों। सीबीएसई की परीक्षाओं में 500 में से 499 अंक पाने वाले बच्चों के चमकते चेहरे टीवी स्क्रीन और समाचार पत्रों के मुखपृष्ठों पर भले ही दिखाई दें, लेकिन यह मानना मुश्किल होगा कि परीक्षा के सभी विषयों में उनकी सिद्धहस्ता का स्तर 'परफेक्शन' के बराबर है। यह माना जाता रहा है कि स्कूल स्तर पर पढ़ाई-लिखाई को आनंदपूर्ण, रचनात्मक, विश्लेषणात्मक और सहभागी बनाने की जरूरत है, जिससे कि हमारे बच्चों में सोचने की क्षमता विकसित की जा सके। यहाँ यह स्वावल उटना ही चाहिए कि बोर्ड परीक्षाओं में क्या बच्चों के भविष्य के लिए जरूरी इन क्षमताओं का सही-सही मूल्यांकन हो पाता है या नहीं।

अगले कुछ वर्षों में 12वीं पास करने वाले ये बच्चे रोजगार के बाजार में प्रवेश करेंगे। यह ठीक है कि इनमें से बहुत अच्छे स्कोर प्राप्त करने वाले युवाओं के हाथों में एक नामचीन कॉलेज या यूनिवर्सिटी की डिग्री होगी, जो उन्हें मोटी सैलरी पर कोई अच्छी नौकरी जरूर हासिल करा जाएगी। किंतु क्या ये युवा अपने निजी जीवन और करियर में उन चुनौतियों का सामना कर पाएंगे, जो चौथी औद्योगिक क्रांति पैदा कर चुकी है? वर्ल्ड इकोनॉमिक्स फोरम का कहना है कि सारी दुनिया में आज जितनी नौकरियाँ उपलब्ध हैं, उनका 57 प्रतिशत साल 2030 तक खत्म होने की आशंका है। और 2030 में जो कुल नौकरियाँ उपलब्ध होंगी, उनका 20 प्रतिशत अभी मौजूद नहीं है। इसका नतीजा है कि अगले 20-25 वर्षों में नौकरियों के लिए आवश्यक 'कोशल सूची' हर तीन से पाँच वर्ष में बदलती रहेगी।

नदारद मुद्दे, निराश मतदाता

शशि शेखर

भारतीय राजनीति का तिलिस्म अब अपने द्वारा गढ़े गए घटाटोप का शिकार होता जा रहा है। इतिहास की अंधेरी खोह में सत्ते-बजबजाते अर्द्धसत्य अथवा असत्य जब सच की चासनी चुपड़कर परसे जाएंगे, तो ऐसा ही होगा। नेता सोंचते हैं कि नकारात्मक तर्क उनके प्रति सकारात्मक माहौल बनाते हैं, पर वे गलत हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि पश्चिम के तमाम समाजशास्त्री इस बदलते वक्त को 'पोस्ट ट्रूथ एरा' पुकारते हैं।

यही वजह है कि भारत सहित विश्व के तमाम तरक्कीपसंद देशों में मतदान प्रतिशत में उतनी बढ़ोतरी नहीं हो रही, जितनी की उम्मीद की जाती है। भारत का चुनाव आयोग अन्य मामलों में भले ही कुछ लोगों को असंतुष्ट करता आया हो, पर उसके आलोचक भी इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते कि मतदान प्रतिशत बढ़ाने के लिए उसने जो तोड़ कोशिश की। तरह-तरह के आकर्षक अथवा लोकप्रिय चेहरे लगातार जोशीले नारे लगाते रहे, पर नतीजा? 2014 में 66.44 फीसदी मतदान के मुकाबले अभी तक औसत मतदान में खास बढ़ोतरी नहीं देखी गई है। पुरजवान 21वीं शताब्दी के भारत से इससे कहीं ज्यादा की उम्मीद थी। इससे 'हाई' जोश तो आजाद भारत के पहले आम चुनाव में देखा गया था। 1951-52 में 61.16 फीसदी लोगों ने मतदान का प्रयोग किया था। तब रैलियों और सीमित प्रसार संस्था के अखबारों के अलावा प्रचार के लिए गाँव-गाँव मुनादी का इस्तेमाल किया जाता था। यातायात के साधन नहीं थे और मतदाताओं को मीलों पैदल चलकर अपने अधिकार का उपयोग करना पता था। क्या तब के वोटर को अपना जोश 'हाई' करने के लिए उठा? जैसी किसी फिल्म की जरूरत नहीं महसूस होती थी? कुदरती उत्साह और प्रायोजित तरंग में अंतर तो होगा ही। जाहिर है, शोर-शराबे में डूबता-उतरता हमारा लोकतंत्र सही

और सार्थक रास्ते पर नहीं चल रहा। इसका सबसे बड़ा उदाहरण दक्षिण मुंबई है। वैभव, विलासिता और अपने 'अप-मार्केट ऐटीट्यूड' के लिए पहचाने जाने वाले इस इलाके में महज 52.15 फीसदी मतदान हुआ। यहाँ इस

की किरण नजर आती है, तो वे उसकी ओर खिंचे चले आते हैं। बहुत दूर क्यों जाएँ, सन 2011 में अन्ना हजारे ने जब दिल्ली में अनशन शुरू किया था, तो सिर्फ देश की तरुणाई नहीं, बल्कि हर उम्र और हर वर्ग के लोग



सदी में जन्मे वे लोग भी खासी तादाद में हैं, जिन्हें 'मिलेनियल' कहा जाता है, जिन्हें पहली बार मतदान का हक-हुकूक हासिल हुआ था, पर उन्होंने उत्साह नहीं दिखाया। हमारे राजनेता सोचते क्यों नहीं कि उनके भाषण नई उम्र की नई फसल के लिए आकर्षक विहीन साबित हो रहे हैं।

सिर्फ 'मिलेनियल' क्यों? मौजूदा राजनीतिक रुख-रवैये के प्रति सभी संवेदनशील वर्गों की असहजता बढ़ती जा रही है। यह ठीक है कि हमारे लोग धर्म, जाति, क्षेत्र और भाषा के आधार पर बंटे हुए दिखाई पड़ते हैं, मगर यह भी सच है कि जब भी किसी राजनेता अथवा सामाजिक अग्रदूत में हिन्दुस्तानियों को उम्मीद

उम? प? थे। जो दिल्ली पहुँच सकते थे, वे यहाँ आ जुटे थे। जो नहीं आ सके, उन्होंने अपने-अपने शहरों में प्रतीकात्मक उपवास, धरने और प्रदर्शन आयोजित किए।

2014 के आम चुनाव में नरेंद्र मोदी उसी परिवर्तन कामना पर सवार होकर अहमदाबाद से निकले थे। यही नहीं, दूसरी धारा के अरविंद केजरीवाल भी ऐसे ही ज्वार पर सवार थे। दोनों ही अलग-अलग सत्ता सदनों में दाखिल हुए और अब न केवल वे दोनों, बल्कि सभी दल और शख्सियतें हमारे समक्ष हैं। 2019 के आम चुनाव के परिणाम जो भी आएँ, पर जन-भागीदारी के हिसाब से इसे बहुत अच्छा नहीं माना जाएगा। अनंत

कोलाहल में गोते लगाता आम आदमी अगर बेरुखी नहीं दिखा रहा है, तो उसमें कोई खास उत्साह भी नहीं दिख रहा। आप याद करें, जम्मू-कश्मीर से एक वीडियो वायरल हुआ था। पहले चरण के मतदान के दौरान एक शख्स मतदान केंद्र पर डिस कर रहा था। अति उम्मीदवारों ने इसे लोकतंत्र के उत्साह, उछाल और न जाने किन-किन विशेषणों से नवाज दिया था, पर अगले चरण से ही घाटी में मतदान फोका पड़ा गया। वहाँ अब तक 2.5 फीसदी की गिरावट दर्ज हो चुकी है। क्या यह वर्तमान परिस्थितियों के प्रति निराशा का प्रतीक नहीं है? घाटी को छोड़ें, भी दें, तब भी तय है कि मतदाता पिछले चुनाव की तरह मुखर नहीं है। क्या इसका एक बड़ा कारण यह नहीं है कि पिछले तीन सालों के दौरान हमने जिन मुद्दों पर बड़े आंदोलन देखे थे? सवाल उठता है कि नरमुँदों की माला पहने हुए वे किसान कहाँ चले गए, जो जंतर-मंतर पर लंबे समय तक विलाप करते हुए दिखाई पड़े थे? उन्होंने कभी घास खाकर, तो कभी स्वमूत्र पीकर अंतरराष्ट्रीय सुर्खियाँ लूट ली थीं। बेरोजगारी के ऊपर भाषण देकर चमके हार्दिक पेटेल, जिनेश मेवाणी जैसे नेता चर्चा से गायब क्यों हैं? छीजती हुई नदियों के किनारे गढ़े खोदकर पानी जमा करती महिलाओं के फोटो भी नदारद हैं। वे अवकाश प्राप्त सैनिक और उनके अफसरान किधर बिला गए, जो जंतर-मंतर पर अपने सोने पर शीर्ष के प्रतीक टाँककर पुलिस द्वारा धकियाए गए थे? सामाजिक आंदोलनों की नियति यही है।

राज्य के पोषण के बिना वे लंबे समय तक खुद को नहीं खींच पाते। रही बात राज्य की, तो उसे राजनीति हाँकती है। यही वजह है कि मौजूदा चुनाव कोलाहल तो रच रहा है, पर मुद्दों के सार्थक और सटीक हल के वांछित विकल्प नहीं सुझा रहा। किसी भी लोकतंत्र के लिए यह शुभ संकेत नहीं है।

झूठ के दौर में दुनिया को आईना दिखाती है सुनयना की आवाज

राजेश कुमार मालवीय

रे से दौर में जब टीवी स्क्रीन पर न्यूज चैनल से दिनरात आजी 'तू तू...मैं, मैं की ड्रावनी आवाजों से लोग आखि आ चुके हों, सातवी कक्षा में पढ़ने वाली एक बच्ची सुनयना के माफ़त कही गई कहानी नजीर बनकर आती है। यदि आप इस कहानी में को यू न भी मारें कि इसे बतौर एंकर एनडीटीवी के प्रमुख प्रणय राय अंजाम दे रहे हों तो ऐसे में तय कर पाना ही मुश्किल हो रहा है कि आखिर सच क्या है। आश्चर्य तो यह भी है कि महामत्सा गांधी के माध्यम से दुनिया में सच को जानने—समझने और प्रयोग करने की सबसे बड़ी प्रयोगशाला में गांधी के जाने के इतने कम समय में सच सबसे बड़े खतरे में लगता है। बड़ा फर्क और बुनियादी फर्क



तकरीबन बचता ही रहा है। पर आप बच्चों के पास जाईएँ, उनसे दोस्ती कीजिएँ, उन्हें मौका दीजिएँ और उनकी बातें सुनिएँ, सुनयना की तरह वह आपके जीवन के तमाम उबड़-खाबड़ रास्तों से वाकिफ कराएँगे, जिन पर आप चलेंगे तो वहाँ पहुँचेंगे जहाँ से आपको सच समझने का रास्ता मिलेगा, क्योंकि उनकी दुनिया सिर्फ स्वार्थ पर टिकी दुनिया नहीं है। उनकी चिंता में गाँव के जानवरों से लेकर हर बारीक मसला है। उनको पता है कि शहर की सब्जी में ज्यादा मसाले पड़ते हैं और उन्हें हल्दी—मिर्च से काम चलाना पड़ रहा है।

जहाँ उलझन और दांव दोनों बड़े हैं

महेश गंगराज

स भी की निगाहें उत्तर प्रदेश पर टिकी हुई हैं। इसकी वजह सिर्फ यह नहीं है कि 80 लोकसभा सीटों के साथ यह देश का सबसे अधिक आबादी वाला राज्य है, बल्कि इसलिए भी कि मोदी-रथ के समने इस बार यहाँ मायावती और अखिलेश यादव का नया गठबंधन है। साल 2014 और 2017 में यहाँ कमल का खिलान असाधारण था। तब भाजपा की 40 फीसदी से अधिक मत मिले थे, जबकि 1990 के दशक में पार्टी 31 फीसदी वोट पाने के लिए भी संघर्ष किया करती थी। तो क्या भारतीय जनता पार्टी सत्ता की स्वाभाविक दावेदार है?

इसके बारे में पुछा तौर पर 23 मई को ही कहा जाएगा। बहरहाल, साल 1993 की एक बड़ी घटना थी, काशीराम की बहुजन समाज पार्टी और मुलायम सिंह यादव की अपेक्षाकृत नई समाजवादी पार्टी का गठजोड़। इन दोनों दलों ने मिलकर तीन उप-चुनाव जीते थे, लेकिन उनका नारा लालकृष्ण आडवाणी के नेतृत्व वाले संघ परिवार से मुकाबिल था, जो 6 दिसंबर, 1992 को आयोजित हुए विध्वंस से 1992 को ऊर्जावान महसूस कर रहा था। नरेंद्र मोदी की तरह

ही तब के उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री कल्याण सिंह हिंदू अभिमान के रक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किए गए थे। फिर भी गठबंधन भारी पड़ा और उसने सरकार बनाई। तब जो नारा लगा था, वह था— मिले मुलायम काशीराम/ हवा में उड़ गए

जय श्रीराम। यह नारा कई वजहों से महत्वपूर्ण बन गया था। उस वक्त मंडल और दलित समुदायों ने आरक्षण की रक्षा के लिए एक व्यापक एकता बनाई और यह सुनिश्चित भी किया कि इन दोनों को कम करने के लिए समुदाय आधारित ध्वकोरण न होने पाए। तब तक भाजपा निश्चित तौर पर संकीर्ण और कुछ पुजारियों व व्यापारियों तक सिमटी पार्टी नहीं थी, और पार्टी के लिए कल्याण

सिंह हाल ही में मुक्ति पाए वर्षों के एकमात्र प्रमुख नेता थे। साल 1952 में अधिकांश भारतीय वोट नहीं दे पाए थे, क्योंकि उनके पास संपत्ति और साक्षरता कम थी। लिलाहा, यह उन लोगों के लिए लड़ाई थी, जिन्होंने आजादी के

लोगों को संगठन से जोड़ने और उनमें से ज्यादातर को चुनाव में टिकट देने की संघ परिवार की मुहिम के दो उद्देश्य हैं। पहला, अपने आधार को विस्तार देना और दूसरा, विभिन्न पिछड़ी जातियों और दलित समुदायों को अपने व्यापक सामाजिक आधार से जोड़ना और फिर उनके माध्यम से समाजवादी या दलित विविधता की बड़ी कल्पना को ध्वस्त करना। यही वह अकेला कारण है कि बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी और राष्ट्रीय लोकदल के गठबंधन ने पिछले साल इतनी तेजी से आकार लिया। यह सिर्फ चुनावी लड़ाई नहीं है, बल्कि गंगा के तटीय इलाकों के मन और आत्मा का जंग भी है। अपने एक हालिया साक्षात्कार में भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष अमित शाह ने जातिवाद, वंशवाद की राजनीति और अल्पसंख्यक के तृष्णकाल को उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा विकार बताया है। लेकिन 2017 के बाद इस राज्य ने कई बड़े बदलाव देखे हैं और कुछ बदलाव तो काफी तेजी से हुए हैं। गोकर्षी पर प्रतिबंध से मवेशियों की बिक्री खत्म हो गई, और आवाज मवेशी फसलों को नुकसान पहुँचाने लगे। गन्ना किसानों के बकाए का मुद्दा अब भी काफी अधिक महत्वपूर्ण बना हुआ है।

भारत के चुनाव से बेचैन पाकिस्तान

रुशांत सरिन

भारत में चल रहे संसदीय चुनावों के नतीजों को लेकर पाकिस्तान में कुछ जनादा ही उत्सुकता दिख रही है। वहाँ इन चुनावों से जुड़ी दो तरह की धारणाएँ दिख रही हैं। पहली धारणा उसकी उम्मीदों से जुड़ी है। हालाँकि उम्मीदें भी वह दो किस्म की पाल रहा है। पहली उम्मीद यह है कि भारतीय जनता पार्टी, और खासतौर से नरेंद्र मोदी को आम चुनावों में मुँह की खानी पड़े, ताकि 'जैसे को तैसा' की भाषा में जबवा देने वाला वजीर-ए-आजम भारत को सत्ता पर दोबारा न आ सके। इसके साथ बिल्कुल उलट दूसरी उम्मीद यह है कि अगर मोदी को फिर से सत्ता मिलती है, तो मुम्किन है कि भारत और पाकिस्तान का आपसी तनाव कम हो। पाकिस्तान के वजीर-ए-आजम इमरान खान ने कुछ दिनों पहले एक पत्रकार-वार्ता में यह कहा ही था कि भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के दोबारा सत्ता में आने पर दोनों देशों के बीच शांति-वार्ता की बेहतर गुंजाइश होगी। दूसरी धारणा पाकिस्तान की हताशा से जुड़ी है। असल में, भारत में जब चुनावी प्रक्रिया शुरू होने जा रही थी, तो वह यही मानकर खुश हुआ जा रहा था कि



नरेंद्र मोदी की दोबारा ताजपोशी नहीं होने वाली है। उसकी यह धारणा मीडिया के विभिन्न माध्यमों से उस तक पहुँचने वाली खबरों से बनी थी। लेकिन जैसे-जैसे चुनाव ने गति पकड़ी, और विशेषकर बालाकोट एर स्ट्राइक के बाद माहौल बदला, इस्लामाबाद के सत्ता प्रतिष्ठानों को यह एहसास होने लगा कि भारत में भाजपा संभवतः फिर से सत्तासूद पार्टी बनने जा रही है। वह भी इन आम चुनावों को ठीक उसी तरह मोदी के आईने से देख रहा है, जिस तरह हमारे यहाँ का पूरा चुनावी विमर्श मोदी के आसपास सिमट गया है। हर कोई मानो यही पूछने लगा है कि मोदी सरकार फिर से आएगी या जाएगी? चूँकि भारत के इस वजीर-ए-आजम को पाकिस्तान का आम आवाज भी पूर्वग्रह भारी निगाहों से देखता है, इसलिए उनके सत्ता में लौटने के कयास मात्र से पाकिस्तान चिंतित हो रहा है।

उसकी इस हताशा की एक वजह नरेंद्र मोदी का अप्रत्याशित रवैया भी है। मोदी पूर्व के तमाम प्रधानमंत्रियों से अलग रहे हैं। उनके बारे में सटीक तौर पर कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वह अमूमन गैर-पारंपरिक रुख अपनाते हैं। वह सर्जिकल स्ट्राइक करते हैं। पड़ोसी देशों को हवाई सीमा में अपने विमान भेजते हैं। मिसाइल हमले को भी धमकी देते हैं। यानी, वह पाकिस्तान से बिल्कुल नई भाषा में बात कर रहे हैं, जिसकी उम्मीद इस्लामाबाद को कदाई नहीं थी। इस वजह से पाकिस्तान का वह 'स्ट्रैटेजिक फ्रेमवर्क' टूट गया है, जिस आधार पर वह अब तक भारत के साथ अपने रिश्तों को तालता रहा है। पाकिस्तान में यह खलबली हमारे राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजीत डोभाल के रवैये के कारण भी बनी है। डोभाल पाकिस्तान के प्रति सख्त रुख अपनाते हैं, और प्रत्यक्ष व परोक्ष, किसी भी किस्म के युद्ध का आक्रामक जवाब देने का तैवर रखते हैं।

बहरहाल, नरेंद्र मोदी की फिर से ताजपोशी होती है अथवा नहीं, इसका फैसला तो 23 मई को होगा। लेकिन इतना तय है कि अगर मोदी फिर से लुटियन जेन में लौटेंगे हैं, तो वह अपने हितों के साथ समझौता करके पाकिस्तान से रिश्ता बनाना शायद ही संभव करेगा। संबंध सुधरने की पाकिस्तान की यह उम्मीद इसलिए भी टूटती दिखती है, क्योंकि भारत अपनी अर्खंडता में संघ लगाने वाला कोई समझौता नहीं करेगा। हालाँकि कश्मीर को लेकर जिस समझौते की उम्मीद पाकिस्तान लगाए बैठा है, उसको लेकर वह खुद भी स्पष्ट नहीं है। इमरान खान ने यही कहा था कि किसी तरह का कोई समझौता हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि वह समझौते की रूपरेखा से वाकिफ नहीं है। तो क्या भारत, खासतौर से कश्मीर को लेकर पाकिस्तान अपनी पारंपरिक नीति से पीछे हट रहा है? धुंध की यह चादर भी 23 मई के नतीजों के बाद ही छंट सकेगी। सवाल यह है कि मोदी के हारने पर पाकिस्तान उत्साहित क्यों होगा?